भगवान महावीर का अपरिग्रह

एक दार्शनिक विवेचन

प्रो० श्रीचन्द्र जैन

संग्रह—एक चिरंतन प्रवृत्ति—

अनादि काल से मनुष्य संचय एवं संग्रह की ओर आकर्षित होता चला आ रहा है। केवल आकर्षण ही नहीं अपितु विविध प्रकार के संग्रहों में इस मानव ने स्वयं को इतना संलग्न कर रखा कि वह अपने उदात्त अस्तित्व को भूला एवं अपनी आध्यात्मिक चेतना को भी विस्मत कर बैठा इस संदर्भ में उसने गुरुओं से बहुत कुछ सुना सांसारिक परिवर्तनों ने उसे अनेक बार झकझोरा, स्वानुभूति के आलोक में उसने अपनी कमजोरियों को विविध रूपों में परखा अपने साथी के सम्पर्क में आकर अपनी भूलों को भी पहचाना तथा धार्मिकता एवं सामाजिकता के आदान–प्रदान में धनादि की संग्राहक अनुभूति की निस्सारता को अनुभूत किया, फिर भी वह अपनी ललक लालसा की उपेक्षा न कर सका। अपने खुले नेत्रों से इसी मानव ने धनवान् की प्रतिष्ठा देखी, दीन-हीन का अनादर देखा और श्रीमान के अत्याचारों से प्रपीड़ित कराहती हुई मानवता को एक बार नहीं अनेक बार देखा। धन-वैभवादि की निन्दा करने वाले उन विद्वानों को जब इस इन्सान ने धनवानों के प्रशस्ति गान में सलग्न पाया तो उसका अपरिग्रहवादी उन्मेष बालुका–निर्मित भित्ति की भांति शीघ्र बिखर गया। तथ्य तो यह है कि सांसारिक जीवन यापन में धनादि की आवश्यकता अनिवार्य है फिर भी इनके प्रति अमर्यादित गृध्रता अक्षम्य है।

भर्तहरि जैसे अनुभवी मनीषी का यह कथन कि सभी गुण सुवर्ण (धनादि) में रहते है सार्वभौमिक सत्य की परिधि में नहीं माना जा सकता है,[1] धन-संग्रह की यह एकदेशीय उपयोगिता कही जायगी।

1. यस्यातिवित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।
— सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी आदमी अच्छे कुल का है, वही विद्वान, वही शास्त्रज्ञ और गुणों का पारखी है, वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए। (भर्तृहरि कृत शतकत्रयम्, अनुवादक श्रीकांत खरे, नीति शतकम्, पृष्ठ 34)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह—एक मानसिक संघर्ष—

शैतान की एक अनुकृति है, परिग्रह पशुता है, उलझन है, संग्राम है, शोषण है, अनर्थ है, संकीर्णता है, कालिमा है, विष है, मदिरालय है और माया का जघन्यरूप है।

परिग्रही का आचरण इतना हेय होता है कि सर्व-साधारण में भी उसकी प्रतिष्ठा कलंकित हो जाती है और उसका आचरणजन्य घेराव उसकी आत्मिक-शक्ति को कुंठित कर देता। फलतः उसका मानसिक तनाव इतना असंतुलित हो जाता है कि वह स्व पर का विभेद भी भूल उठता है। उलझनों से लिपटा हुआ उसका चिन्तन संकीर्ण होकर अनेक अनर्थों को जन्म देता है और पाप कालिमा से कलुषित उसकी जीवन सरिता कुंठित धूमिल हो जाती है। परिग्रही की धन लिप्सा पशुता का ही दूसरा रूप है, जिसमें न करुणा है और न उदारता। भोगों के जाल में आबद्ध ऐसा सँग्राहक विषय बासना की कल्पित पूर्ति में ही अपने लक्ष्य की समाप्ति मान लेता हैं जो उसके पतन का प्रारम्भिक एवं चरम रूप दोनों ही हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थियों का आगार यह अनावश्यक संग्रह यद्यपि कांचन-आकर्षण अवश्य है लेकिन इसकी चरमोवलब्धि घृणित मृत्यु मानी गई है।

सब पापों का मूल परिग्रह—

विश्व में जितने अनर्थ पाप दुष्कर्म होते हैं उनका एक मात्र कारण परिग्रह है। इसी धन धान्यादि के अनावश्यक संग्रह संचय ने इस पुण्य भूमि को नरकीय रूप में परि-वर्तित कर दिया है। आज नहीं अपितु एक बड़े समय से इंसान अर्थ लोलुपता के कारण अपना सब कुछ भूल चुका है। छोटे-बड़े संघर्ष इसीलिए हो रहे हैं, कि मनुष्य अपनी लालसा बढ़ाता जा रहा है और बढ़ती हुई उसकी कामना जब अपूर्ण रह जाती है तब वह हिंसा करता है मिथ्या बोलता कुकर्म करता, चोरी करके धनादि को एकत्रित करता हुआ व्यभिचारी तक बन जाता है। गंभीरता से विचार करते पर यह सत्य हमें प्रभावित करता है कि अपरिग्रही ही सच्चा जैन बनता है। मानव कहलाता है और सद्गुणी बनकर विश्व की धरती पर सम्मानित होता है। सन्तोष की उपलब्धि का अर्थ है कि मानव के मानस में संचय की भावना नहीं है।

भगवान महावीर का कथन है—

संगनिमित्ति मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमांण कुणइ जीवो॥

जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता, चोरी करता है। मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। (इस प्रकार परिग्रह पाँचों पापों की जड़ है।)

राग द्वेष की अग्नि को प्रज्वलित करने वाला यह परिग्रह ही है जिसने यत्र-तत्र सर्वत्र विभीषिका के अशोभ-नीय दृश्यों को अधमाधम धरातल पर प्रदर्शित किया है। कविवर स्व० दुष्यंतकुमार की ये पंक्तियां समाज के रक्त-रंजित इतिहास के काले पन्नों को हमारे आगे विचारार्थ रख रही हैं। इनमें दर्द है, वेदना है दीन की चीत्कार है और शोषण का आर्तनाद है:—

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं,
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।
अब नयी तहबीज के पेशे नजर हम,
आदमी को भूनकर खाने लगे हैं।

मूर्च्छा ही परिग्रह है

लालसा, ललक, आकांक्षा, उन्माद, माया, लोलु-पता आदि को मूर्च्छा कहा गया है। इसीलिए एक अर्द्धनग्न बनवासी अपरिग्रही नहीं है क्योंकि उसके मानस में धनादि के संग्रह की कामना भावना निरन्तर जीवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहती है जो अपूर्ण होने के कारण उसकी विह्वलता को दहकाती है। इसके विपरीत एक नृपति जो विशाल वैभव का स्वामी है। जो राज्यश्री से असंप्रक्त है उसे अपरिग्रही कहा गया है। इस संबंध में अनेक धार्मिक कथाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है। मोक्ष शास्त्र के सप्तम अध्याय में वर्णित है—

मूर्च्छा परिग्रहः ।।17।।

मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। मूर्छा का अर्थ है—बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरंग क्रोधादि कषायों में वे मेरे हैं ऐसा भाव रहना।[2]

चार संज्ञाओं में परिग्रह संज्ञा को भी परिगणित करके तत्वार्थ सार में बताया गया है कि अंतरंग में लोभ कषाय की उदारणता होने से तथा बहिरँग में उपकरणों के देखने, परिग्रह की ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव—ममता भाव के होने से जो इच्छा होती है उसे परिग्रह संज्ञा कहते है। यह संज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है। (देखिए श्रीमदमृतचन्द सूरि कृत तत्वार्थ सार, सम्पादक—पंडित पन्नालाल साहित्याचार्य, पृ. 46)

परिग्रह का संचय न होकर यदि इसका आवश्यकतानुसार वितरण होता रहे तो संसार की विषमता शीघ्र समाप्त होगी और संघर्षों में खनखनाते हुए तड़तड़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रों का प्रलाप समाप्त हो जावेगा। अन्यथा यह विरोध कभी न समाप्त होगा और सदा भवातुरता व्याप्त रहेगी। कविवर दिनकर की ये चार पंक्तियाँ परिग्रह से आतंकित बेचैनी को उघाड़ती हैं उजागर करती हैं :—

जब तक मनूज-मनुज का यह,
सुख भोग नहीं कम होगा।
शाँत न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।

परिग्रह के भेद :

परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यांतर और बाह्य आभ्यांतर परिग्रह चौदह प्रकार का है : 1. मिथ्यात्व, 2. स्त्रीवेद, 3. पुरुषवेद, 4. नपुंसकवेद, 5. हास्य, 6. रति, 7. अरति, 8. शोक, 9. भय, 10. जुगुप्सा, 11. क्रोध, 12. मान, 14. माया, 14. लोभ।

बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है :—

1. खेत, 2. मकान, 3. धन-धान्य, 4. वस्त्र, 5. भाण्ड, 6. दास-दासी, 7. पशु, 8. यान, 9. शय्या, 10. आसन। (द्रष्टव्य—समण सुत्त, पृष्ठ 47)

आन्तरिक शुद्धि और बाह्य शुद्धि के लिए दोनों प्रकार के परिग्रह का क्रम से परित्याग आवश्यक है। लेकिन आभ्यांतर परिग्रह के त्याग से बाह्य आडम्बर (परिग्रह) के प्रति अनुरक्ति स्वतः नष्ट हो जाती है।

मानसिक परिशुद्धि, आत्मोत्थान के लिए सर्वदा वाञ्छित कही गई है।

अविनश्वर विश्रान्ति के हेतु इन्द्रियनिग्रह प्रमुख साधन है तथा एतदर्थ परित्याग सर्वप्रधान है। कहा गया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ (परिग्रह) से मुक्त, शीतीभूत प्रसन्न चित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

---

2. तत्वार्थसार में भी इसी तथ्य को इस प्रकार प्रमाणित किया गया है:—
ममेदमिति संकल्प रूपा मूर्छा परिग्रहः ।। 77 ।'
—'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प रूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश होता है, और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है वैसे ही इन्द्रिय-निवारण के लिए परिगृह का त्याग (कहा गया) है। असंगत्व (परिग्रह-त्याग) से इन्द्रियाँ वश में होती हैं।

(समण सुत्त पृष्ठ 47)

माया का त्याग—संतोष से अनुराग

परिगृह-त्याग का वास्तविक अर्थ है माया से विराग। यही माया है जिसने ब्रह्माण्ड की शान्ति को कुंठित कर दिया है, पंगु बना दिया हैं और अहर्निश इस विश्रान्ति के आंगन में प्रस्फुटित कोमल अंकुरों को यही विघातिनी तोड़ रही है। यही लोभ—आसक्ति समत्व की विरोधिनी हैं, समता को नाशिनी है, नरक का द्वार है। संसार के समस्त संतों ने इसीलिए माया का तिरस्कार किया है।

श्रीमद्भगवदगीता में (अध्याय 16) कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं। अर्थात् अधोगति में ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

माया के विविध रूपों को वर्णित करके संत कवि कबीर ने इसे पापणी कहा है।

माया तजु तजी नहिं जाई।
फिरि फिरि माया मोहि लपटाई॥
माया आदर माया मान।
माया नहीं तहं ब्रह्म गियान॥
माया रस माया कर जांन।
माया कारनि तजै परांन॥
माया माता माया पिता।
अति माया अस्तरी सुता॥
माया मारि करै व्यौहार।
कहै 'कबीर' मेरे राम अधार॥

कबीर माया पापणी, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम।

(कबीर ग्रन्थावली)

आशारूपी नदी की जननी यही माया है और इसे जिस महानानव ने 'संतोष' के माध्यम से जीता है—पार किया है—वही धन्य है।[3] आत्म संतुष्टि का नाम

---

3. मोह से महान ऊंचे परबत सों ढर आई,
तिहूँ जगभूतल को पाय बिस्तरी है।
विविध मनोरथ में भूरि जल भरी वहै,
तिसना तरंगिनसों आकुलता धरी है।
परै भ्रम भौंर जहां राग सो मगर तहाँ,
चिंता चित तट हुंग धर्म बृक्ष ढाय परी है।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध,
ताको धन्य साधु धीरज जहाज चढ़ि तरी है
(जैन शतक छंद 76)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो संतोष है । इससे निर्लोभ की भावना बलवती होती है, दया की वृद्धि होती है, और उदारता में सत्य का अनुभव होने लगता है । यही सन्तोष अनन्त कामना को समाप्त करता है और आत्मा में ही विराट् विश्व की कल्पना को साकार बनाता है । सन्तोष ही परम सुख है । अतः परिग्रह के परित्याग में इसी गुण (सन्तोष) का विशेष महत्व है । आशा तृष्णा को निर्मूल करनेवाला सन्तोष ही है जो आत्म चिंतन को सफल बनाकर नर को नारायणत्व प्रदान करता है । कविवर बनारसीदास का निम्नस्थ पद यहाँ उल्लेख्य है :—

रे मन, कर सदा संतोष,
जातें मिटत सब दुःख दोष ।
रे मन कर सदा सन्तोष ।

बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिसना होति ।
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति,
रे मन, कर सदा संतोष ।

लोभ लालच मूढ़ जन सो कहत कंचन दान ।
फिरत आरत नहिं बिचारत, धरम धन की हान ।
रे मन कर सदा संतोष,

नारकिन के पादूसेवत सकुच मानत संक ।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रक ।
रे मन, कर सदा सतोष ।

आध्यात्म-पदावली, पृष्ठ 105 ।

स्व-पर-भेद का प्रकाशक संतोष है जिसने—संतोष ने—मायाजनित विकारों को नष्ट किया एवं मन के समस्त दोषों का परिमार्जन कर उसे (मन को) शुद्ध चिंतन में लगाया है ।[4] गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विनय पत्रिका के अनेक पद इस सदर्भ में पठनीय है । कामनाओं को त्याग करनेवाला संतोषी ही है जिसे अपरिग्रही भी कहा गया है । भगवान महावीर ने कहा है—

कामे कमा ही कमियं खु दुक्खं ।'

जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है । क्योंकि :—

इच्छा हु आगास समा अणंतिया । उत्त०

इच्छाएँ (कामनाएँ) आकाश के समान अनंत हैं, एवं इनकी पूर्ति असंभव है । एक ही पूर्ति दूसरी (कामना) को जन्म देती है ।

एक संत कवि का यह दोहा सन्तोष की व्याख्या में पर्याप्त है :—

गोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान ।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान ।।

गोस्वामी तुलसीदास संतोष की महिमा अंकित करते हुए कहते हैं—

संतोष के बिना कोई भी आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता ।

सोरठा—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ।

(दोहावली 275)

स्वाभाविक संतोष के बिना क्या कोई शांति पा सकता है ? चाहे करोड़ों प्रकार से जतन करते-करते

---

4. माया मरी न मन मरा, मर मर गया शरीर ।
आशा तृसिना ना मरी, सो कह गए दास कबीर ।
—संत कबीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर जाय, जल के बिना सूखी जमीन पर क्या कभी नाव चल सकती है ?

'जैन धर्मामृत' में कहा गया है कि जिस पुरुष को संतोष रूपी आभूषण प्राप्त है उसके समीप में सदा निधियाँ विद्यमान रहती हैं, कामधेनु अनुगामिनी बन जाती है और अमर किंकर बन जाते हैं :–

सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।
अमराः किङ्करायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् ।

(चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ 135)

प्राणी की तृप्ति होना असंभव सा है' जैसे ईंधन से अग्नि की, और हजारों नदियों से लवण समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती । यह असाध्य रोग संतोष से ही साध्य बनता है और शनैः शनैःनिर्मूल हो जाता है ।

भगवान महावीर ने कहा है कि कामना और भय से अतीत होकर यथालाभ संतुष्ट रहनेवाले मेधावी पाप नहीं करते :–

मेहाविणो लोम भयावईया संतोषिणो व पकरेंति पावं ।

संतप्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी संतोष वृति की कामना की है :—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगे ।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ।
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरन्तर, मन क्रम वचन नेम निवहौंगो
परिहरि देह जनित चिंता, दु खसुख समबुद्धि सहौंगो
तुलसीदास प्रभु यह पथि रहि, अविचल हरिभक्ति लहोंगो

(विनय पत्रिका पद 172)

स्वहित एवं राष्ट्र-हित में परिग्रह-मर्यादा आवश्यक हैं ।

परिग्रह–परिधि के लिए हमें सदा सजग रहना चाहिए । यह सर्वमान्य है कि जैन श्रावक--गृहस्थ के के लिए धन-धान्यादि की आवश्यकता निरन्तर रहती है। फिर भी उनका परिमाण निश्चित होना जरूरी है। दिगम्बर मुनि-साधक के लिए तो पूर्णरूपेण अपरिग्रही होना परमावश्यक है ।[5]

उसे परिग्रह त्याग महाव्रती होना, जरूरी है— अन्यथा उसका स्वरूप ही कलंकित हो जायगा । वाह्य परिग्रह का दिगम्बर साधु त्यागी रहता ही है और साथ ही साथ आभ्यांतर परिग्रह के परित्याग में वह सदैव संलग्न माना गया है । जैन मुनि की इस साधना में न अतिचार आना चाहिए और न अनाचार । लेकिन जैन श्रावक के लिए परिग्रह परिणाम व्रत का विशेष महत्व है । कहा भी है :—

धन-धान्य आदि वाह्य दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक वस्तुओ में निस्पृहता रखना सो इच्छा परिमाण नामका पांचवा परिग्रह परिमाण वृत है ।

---

5. चेतनेतर बाह्यान्तरग विवर्जनम् ।
ज्ञान संयमसंगो वा निर्ममत्वमसगता । (जैन धर्मामृत पचम अध्याय)
चेतन और अचेतन तथा वाह्य और अंतरंग सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड़ देना और निर्गमत्व भाव को अंगीकार करना अथवा ज्ञान और संयम का ही संगम करना सो असंगता नामक परिग्रह त्याग महाबृत जानना चाहिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन्य-धान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्प्रहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ।
(जैन धर्मामृत, चतुर्थ अध्याय)

इसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को यह जानना चाहिए कि संसार के मूल कारण आरम्भ हैं, और इन आरम्भों का मूल कारण परिग्रह है, इसलिए श्रावक को चाहिए कि वह अपने परिग्रह को दिन प्रतिदिन कम करता जावे ।

ससार मूलमारंभास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ।
(जैन धर्मामृत, चतुर्थ अध्याय, 72)

जैन धर्म विश्वधर्म है और इसका प्रत्येक सिद्धांत जन-जन का हितकारी है, कल्याणकारी है मंगलकारी है । हरएक जैन साधक देव पूजा में लोक कल्याण की कामना करता है ।[6] तथा मानव-समाज में कल्पित भेद-भाव को भूल कर प्राणी मात्र के हित में अपने जीवन को समर्पित करने का संकल्प करता है। ऐसी स्थिति में दूसरों को पीड़ित कर अन्य के देय को हड़पकर, दीन की कुटिया को नष्ट कर एवं जनता की हरी-भरी कामना को मिटाकर अपना महल बनाना, गुप्त गृहों को धन-धान्यादि से भरना, अपने परिवार के सदस्यों को सोने-चाँदी के आभूषणों से अलंकृत करना तथा रेशमी गद्दों पर लेटकर अपनी थकान मिटाना कहाँ तक उचित है ? लोक कल्याण में संलग्न हमारी माननीया प्रधान मंत्री के बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम की पूर्ण सफलता भगवान महावीर के परिग्रह में ही सन्निहित है। प्रत्येक भारतीय को इस पर विचार करना चाहिए--बाँट के खाइए, बैकुंठ जाइए—यह एक ग्रामीण कहावत है, जिनमें जन कल्याण की भावना मुखरित हुई है । एक दूसरी कहावत है जिसका भाव है कि जो दूसरों के हाथ से छीनकर खाता है, वह नरकगामी होता है । इसलिए हमें कामनाओं को कम करके दूसरों के दुख दर्दों की चिन्ता करनी चाहिए, अन्यथा मनुष्य एवं पशु में क्या भेद है ?

परिग्रह परिमाण पाँच अणुव्रतों में अंतिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढ़ाना इसके अधीन

---

6. (क) होवै सारी प्रजा को सुख बलयुत धर्म धारी नरेशा ।
होवै वर्षा समै पै तिलभर न रहै ब्याधियों का अन्देशा ।
होबै चोरी न जारी सुसमय वरतै हों न दुस्काल भारी ।
सारे ही देश धारैं जिनवर वृषको जो सदा सौख्यकारी । (शांतिपाठ)

(ख) सत्त्वेषुमैत्री गुणीषु प्रमोदं ।
विलष्टेषु जोवेषु कृपादरत्वं ।
माध्यस्थ भावं बिपरीतवृत्तौ ।
सदा ममात्मा बिदधातु देव ।। (सामयिक पाठ)

(ग) मैत्री भाव जगत में मेरा, सव जीवों से नित्य रहे ।
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत वहै ।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवै ।
साम्य भाव रक्खू मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावै । (मेरी भावना)

(घ) परस्परोपग्रहो जीवानाम् । (जैन धर्म का प्रमुख सिद्धांत—तत्त्वार्थसूत्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, परिग्रह को घटाने से हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती है । इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है । निश्चिन्तता और निराकुलता आती है । ऐसी स्थिति होने से धर्म क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है । इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ हैं । किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है । आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत का पालन न करने का ही परिणाम है । आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है आज कुछ लोग यंत्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से भी वंचित रहते हैं । उन्हें पेट भर रोटी, तन ढँकने को वस्त्र और औषधि जैसी चीजें भी उपलब्ध नहीं । इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादों का जन्म हुआ है । समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल हैं । प्राचीन काल में परिग्रह वाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था । .... अतएव अगर परिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो तो न अर्थ-वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग-संघर्ष का अवसर उपस्थित हो ।[7]

सब इस तथ्य से परिचित हैं कि यह सब बाह्य वैभव है, क्षणिक है और मृत्यु होने पर मानव की आत्मा एकाकी हो जाती है । अन्यायोपार्जित सब द्रव्यादि यहीं पर पड़े रहते हैं, फिर भी मोहवश मनुष्य उन्मत्तवत् इस व्यापक तत्व से अज्ञात सा रहता है । श्मशान वैराग्य कुछ क्षणों के लिए अवश्य कभी-कभी मानव चेतना को सजग बनाता है लेकिन यह सजगता निरर्थक ही रहती है । वस्तुतः यह कितनी बड़ी मूढ़ता है कि संचय सग्रह के दुष्परिणामों को हम नित्य प्रति देख रहे हैं फिर भी पशु के समान पारस्परिक विद्वेष बढ़ाकर संग्रह में हम लीन हैं ।

यदि हम मानव हैं, अमीर-गरीब की खाई को पाटना चाहते हैं, दीन-हीन के भेद को मिटाना चाहते हैं तो हमें अपरिग्रह को शीघ्र अपना लेना चाहिए, अन्यथा परिणाम बड़े दुखद होंगे । समाजवाद के प्रति भारतीय जनता विशेषतः आकर्षित है, यह आकर्षण सर्वथा उचित है, यह वाद शोषण से मुक्ति दिलाता है, सबको भरपेट रोटी देता है अत्याचारों एवं अनाचारों से प्रपीड़ित जन को सुख की सांसे लेने का पूरा अवसर देता है और समानता की भावना को निरंतर मूर्त रूप देता रहता है । इसके (समाजवाद) अन्तर्गत सब को समान अधिकार प्राप्त होते हैं सब अपनी योग्यतानुसार कार्य करने के लिए साधन सम्पन्न कराये जाते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से सब में एकरूपता लाने का सफल प्रयास किया जाता है वस्तुतः यह वाद भारत के लिए वरदान के रूप में वरेण्य है ।[8]

ऐसे तो अपरिग्रह सभी धर्मों का आधार है । अपरिग्रह कहने से नहीं करने से होता है । समाज के सभी धर्मों में अपरिग्रह की साधुओं और गृहस्थों के लिए अलग-अलग व्याख्याएं हैं । हमें व्याख्या करनी है अपने लिये ना कि दूसरों के लिए ......अपरिग्रह के लिए प्रथम बात है कि इच्छा को जैसे चाहे मोड़ें, बुरी इच्छा न करें और यदि सदिच्छा भी करें तो उसे परमित ही रखें

7. आचार्य—श्री हस्तीमल जी, म. सा.—परिग्रह-मर्यादा, व्यक्ति और समाज के संदर्भ में, जिनवाणी, मार्च 1976 से साभार.

8. समाजवाद में उत्पादन, वितरण एवं उपभोग पर सामाजिक नियंत्रण होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह की व्याख्या है कि कोई भी अपनी जरूरत से ज्यादा न रखे...अपरिग्रह का सिद्धान्त समाजवाद से भी आगे है। जहाँ समाजवाद की सीमा है उससे आगे अपरिग्रह है समाजवाद अपरिग्रह में ही निहित है, अपरिग्रह का लक्ष्य है भगवान और मनुष्य को एक बनाना। धर्म क्या है? धर्म एक है, मानव धर्म, मानव धर्म कि मनुष्य मनुष्य का शोषण न करें समाज में ऊंच नीच का भेद न हो। आर्थिक असमानताएं कम हों, समाजवाद में सब मनुष्य समान होते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह और समाज का अटूट सम्बन्ध है समाजवाद लोकताँत्रिक तरीके से आता है तानाशाही से नहीं।[9]

धन शाप है वरदान नहीं

सांसरिक संघर्ष का प्रमुख कारण धन है जिसके लिए पिता पुत्र की हत्या करता है, पति पत्नी को मृत्यु के मुख में डालता है, और भाई बहन के गले को दवाते हुए भी नहीं हिचकता है। एक अंग्रेजी कहावत है जिसमें कहा गया है कि धन ही सब अनर्थों की जड़ है। इस धन अर्जन में दुखः है संरक्षण में कष्ट है तथा इसके व्यय में वेदना होती है इसलिए यह धन निरंतर पींड़ा दायक है इसमें सुख कहां?

अर्थानामर्जने दुःखं अर्जितानाञ्चरक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं शोक भाजनम्।।

एक संस्कृत कवि

धन का सदुपयोग यही है कि हम इसका सँचय न करें अपितु जरूरतमंदों में इसे बांट दें:—

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।

निश्चयत: धन विष है कामना की अतृप्ति है, और माया का मोहक रूप है।

भगवान महावीर ने कहा —

(१)—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

(वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व भाव को परिग्रह कहा है।)

(2) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
इर्मम्मि लोए अदुवा परत्था।

(प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ही।)

(3) नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि,
सव्व जीवाणं सव्व लोए।

(विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं बंधन नहीं।)

(4) वहुंपि लद्धुं न निहे
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा।

(बहुत मिलने पर भी संग्रह न करे। परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।)

(5) जया निव्विदए भोगे, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भितर-बाहिरं।,

(जब मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य संबंधी) भोगों से विरक्त हो जाता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य-परिग्रह को छोड़कर आत्म साधना में जुट जाता है।)

(6) जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समायन्ती अमयं गहाय।।

---

9. मोरारजी देसाई—समाजवाद—अपरिग्रह के सिद्धान्त में निहित—'तीर्थंकर', जून 1972., पृष्ठ 37.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहाय ते पास पयट्ठिए नरे ।
वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥

(जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पाप कर्मों द्वारा उसका उपार्जन करते हैं, वे धन को छोड़कर मौत के मुँह में जाने को तैयार हैं, वे बैर से बँधे हुए मरकर नरकवास प्राप्त करते हैं।)

(7) परिग्गह निट्ठिाणं, वैरं तेसिं पवड्ढई।

(जो परिग्रह संग्रह वृत्ति में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति बैर की ही अभिवृद्धि करते हैं।)

(8) थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइथोवनिछो य
थोवोवहि उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ।

(जो साधक मिताहारी, मित–भाषी मित-शायी और मित परिग्रही है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।)

(9) जे ममाइअ मइं जहाइ से जहाइ ममाइअं ।

(जो साधक अपनी ममत्व बुद्धि का त्याग कर सकता है वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है।)

(10) एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ ।

(परिग्रह ही इस लोक में महाभय का कारण होता है।)

(11) लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।

(संग्रह करना, यह अंदर रहने वाले लोभ की झलक है।)

(12) मा नो द्विक्षत कश्चन ।

(हम किसी से द्वेष न करें)

(13) नान्यामन्यास्स दुक्खमिच्छेय ।

(कोई भी किसी दूसरे के लिये दुःख की इच्छा न करें।)

(14) सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु मा वेरिनो ।

(सभी व्यक्ति अबैर बनें कोई भी किसी के साथ बैर न रखें।)

(15) सव्वे सत्ता भवन्तु, सुख वत्ता ।
(संसार के सभी जीव सुखी हों, सुखी रहें!)

(श्री गणेश मुनि शास्त्री, सं.–भगवान महावीर के हजार उपदेश)

यह शरीर भी परिग्रह है

जिस शरीर के लिये इतने अधिक आडम्बर एकत्रित किए जाते हैं तथा जिसकी संरक्षा के हेतु रात-दिन चिंतित रहना पड़ता है वह तन भी कम विघातक नहीं है। करोड़ों के सौन्दर्य प्रसाधन इसी देह की कमनीयता की बुद्धि को अधिक आकर्षक बनाने के लिए खरीदे जाते हैं। इस भौतिक युग में चंचल तरुणाई अधिक भ्रमित है जिसका कारण शारीरिक सुन्दरता कही जा सकती है।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को तीन रूपों में विभाजित किया है जिसमें शरीर को भी परिग्रह बताया गया है

कर्मपरिग्रह, शरीरपरिग्रह, वाह्यभण्ड-मात्र-उपकरण परिग्रहः—

तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, त जहाकम्म—परिग्गहे, बाहिर भंडमत्त परिग्गहे ।

परिग्रही नरक में जाता है

अर्थादि संग्रह में लोलुपी जितना पर-पीड़न करता है उससे हजार गुना कष्ट उसे भोगना न्यायतः समुचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। इसलिए परशोषक को नारकीय जीवन रो-रो कर बिताना ही चाहिए अन्यथा शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफलन कैसे प्रमाणित होगा। आचार्य श्री उमा-स्वामी ने मोक्षशास्त्र (तत्वार्थसूत्र) के अध्याय 6 में कहा है कि बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्या युषः। बहुत आरंभ और परिग्रह का होना नरक आयु का अस्तित्व है। इसी प्रकार माया (छल-कपट) तिर्यञ्च आयु का आस्त्रव है:—माया तैर्यग्योनस्य (मोक्षशास्त्र अध्याय 6 सूत्र 16) निष्पक्ष विचारक इस मान्यता के पूर्ण समर्थक हैं कि परिग्रह जब स्वयँ नरक है तब उसके स्नेही को पातकी बनकर नरक में रहना और तड़पना स्वाभाविक ही है।

वीर-युग-अनेक द्वन्दों का आतंक

महावीर के समय को यदि आत्मधाती कहा जाय तो कुछ सीमा तक अनुचित नहीं है। इस युग में मानवता खंडित थी, धर्मों के रूप प्रशस्तन, थे स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियां जनता के मानस को खसोट रही थीं एवं दीन अमीर का भेद व्यापकता ले चुका था। नारी का करुण क्रन्दन किसी हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ था। दास दासियाँ बाजारों में मूक पशुओं की तरह खरीदे और बेचे जाते थे। विलासता, वैभव का उच्छृंखल ताण्डव नृत्य था। भगवान ने सामाजिक विषमता को समझा एवं उसके परिमार्जन में सफल प्रयास किये। (देखिए महावीर युग में समाज और धर्म की स्थिति लेखक डा० ज्योति प्रसाद जैन, भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ खण्ड 3, पृष्ठ 3।)

जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिए शुद्ध आचार विचार आवश्यक है उसी प्रकार मानवता के उदात्त संरक्षण में अपरिग्रहवाद सर्वोपरि है। इस सृजनात्मक सत्य के दृष्टिकोण को भगवान ने भली भांति अंगीकार कर अपरिग्रह की गरिमा को बहुरूपों में समाज के सन्मुख प्रस्तुत किया और कराहती हुई इन्सानियत को शुद्ध जिजीविषा प्रदान की। भगवान महावीर का यही अपरिग्रह है और यही जैन मत का मूलाधार है।

यदीया वांग्गंगा विविध-नय-कल्लोल-विमला।
बृहद् ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता।
महावीर स्वामी नयस-पथ-गामी भवंतु न;।

—पंडित भागचन्द्र. महाबीराष्टक.

□ □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org